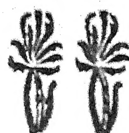
※ श्रीहरिः ※

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद





देवर्षि रमानाथ शास्त्री.

यह पुस्तक परमभगवदीय सेठ
लल्लुभाई निहालचंद पिलवाई
वालेकी द्रव्य सहायता
तथा हंसराजसमाधानीजीकी
सदिच्छासे प्रकाशित हुई है
प्रकाशक—
दे० व्रजनाथशास्त्री परिक्रमाः नाथद्वारा

सं० १९९२
पौषकृष्ण ९
श्रीविठ्ठलनाथोत्सव ।

॥ श्रीहरिः ॥

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद।

स्नेहोभक्तिर्द्विधा वैधी स्वभावानुगता च या ॥
प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढियोगतः ॥१ ॥
स्नेह आनन्दधर्मः स्यादानन्दो भगवानिति ॥
प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोर्भेदाभेदोऽनयोर्द्वयोः ॥ २ ॥

देवार्य —रमानाथ.

स्नेह (प्रेम) रस ही भक्तिरस है । यह भक्तिरस दो प्रकार का है, एक शास्त्रप्राप्त और दूसरा स्वभावप्राप्त । पर अपने आपको परमात्मा पर छोडदेना प्रपत्ति कही जाती है । यह प्रपत्ति भी दो तरहकी है पहली रूढिप्राप्त और दूसरी योगप्राप्त ॥ १ ॥

आनन्द ही की एक किरण स्नेह है । और भगवान् स्वयं आनन्दस्वरूप हैं । भगवत्कृत स्वीकारको (दूसरी) प्रपत्ति कहा है । अतएव भक्ति और प्रपत्तिका भगवान्के साथ भेद और अभेद दोनो सम्बन्ध हैं ॥ २ ॥

" आनन्दः प्रियतातीव " आदि वाक्यों से और अनुभवसे यह सिद्धहै कि आनन्दका ही विस्तार स्नेह किंवा प्रेम है ।

और " सत्यं विज्ञानमानन्दो ब्रह्म " इत्यादि श्रुतियों से यहभी सिद्ध है कि आनन्दही भगवान् है । अतएव कहना होगा कि भगवान् और भगवान्का स्नेह (प्रेम) वास्तव में एक है । किन्तु एकतामें व्यवहार आनन्द नहीं आता इसलिये यह भगवान् का आनन्द प्रेमरूप होकर हमारे पास आगया । अब हमें भगवान्के आनन्दका स्वाद आने लगा । इस तरह भक्ति और भगवान्में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है ।

यही बात प्रपत्ति की भी है । प्रपत्तिका रूढ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप । प्र प्रकर्षेण एकदम, पत्तिः पदनं भगवान्में चले जाना, और आत्मनः अपने आपका भगवान्मे निक्षेप नितरां क्षेपः एकदम डालदेना दोनो बात एक ही हैं । यदि प्रपत्तिका कोरा स्वीकार अर्थ लेते हैं तो भगवान्के साथ प्रपत्तिका भेद है । और यदि आत्म निक्षेप लेते है तो अभेद है । इस तरह प्रपत्तिका भी भगवान्के साथ भेदाभेद सिद्ध है । भगवत्कृत जीव स्वीकार और जीवकृत भगवत्स्वीकार दोनो प्रपत्ति हैं । पहली अनुग्रह (पुष्टि) प्रपत्ति है और दूसरी मार्यादिक प्रपत्ति । दृष्टान्त श्रीगोपीजन और विभीषण । ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम् ।

' रसो वै सः ' ' सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ' ' आनन्द आत्मा ' वह परमात्मा रस है । परब्रह्म सत्य विज्ञान और

आनन्द है । आनन्दमय परब्रह्मका आत्मा भी आनन्द ही है । इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है आनन्दरूप है । पादोस्य विश्वा भूतानि और 'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नानाव्यपदेशात्' एकांशेन स्थितो जगत्, इत्यादि श्रुति स्मृति सूत्रों से यहभी स्पष्ट होताहै कि उस रस रूप परमात्माका ही रूपान्तर होने से अंश होने से सब देहो में विद्यमान आत्मा (जीव) भी वास्तवमें रसरूप आनन्द-रूप ही है । किन्तु माया, बुद्धि, प्राण इन्द्रिय, और देहका आवरण आजाने से इसकी वह रस रूपता तिरोहित हो रही है । अत एव हमें अपना आनन्द तो अनुभवमें आता नहीं, और बाह्यपदार्थोंमें आनन्द मालुम देता है इसी से यह बाह्य-पदार्थो मे प्रेम करने लगता है और अन्तमें उनमें आसक्त होकर जन्ममरण के चक्करमें पड जाता है । अस्तु ।

उस आनन्दरूप आत्माका ही विशुद्ध धर्म या किरण ही जब मनके द्वारा अन्तः प्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहाता है । और इसी लिये प्राकृत लोग उस प्रेमको मनोधर्म कह देतेहैं । वास्तवमें यह स्नेह आनन्दका ही धर्मान्तर होनेसे आत्मधर्म है । स्नेहका मूलरूप निर्गुण है, सत्वादिगुणों का इसमें स्पर्शतक नहीं है । इसीको भाव किंवा रतिभी कहते हैं । आत्मधर्म होनेसे ही यह नित्य है अत एव स्थायी

है । यह निर्गुण विशुद्ध प्रेम जहां कहींभी (आलम्बन) पैदा होता है वहां निष्कारणही पैदा होता है । यह अतीन्द्रिय है । केवल व्यवसाय बुद्धिवेद्य है किंवा स्वसंवेद्य है । गुणमात्र से रहित है अत एव दुःखरहित है और अनिर्वचनीय है । यह साधनों से बढता नहीं, प्रकाशित होताहै और विरुद्ध साधनों से घटताभी नहीं । सदा एक स्वरूप में ही रहता है । तथापि आधारों के द्वारा जब अधिक अधिक अनुभूयमान होता है, तब उद्दीपन विभावादिके द्वारा इसका मूल व्यापक रूप प्रकट होने लगता है । तब यह गहरा और विस्तृत मालुम देने लगता है । इसी अवस्था को सहृदय लोग रस, शृङ्गार, वात्सल्य, किंवा भक्ति कहते हैं । किन्तु यह याद रहैं कि लौकिकमें जो शृङ्गारादि हैं उनमें गुणों का स्पर्श है किन्तु उस अलौकिक रसमें गुणोंका स्पर्श नहीं है । यहां तक यह प्रेम रस बढता है कि सारे संसार में प्रकाशित हो जाता है और फिर अन्त में आप भी उसी व्यापक प्रेमानन्दमें विलीन हो जाताहै इस अवस्थाको शास्त्रोंमें मुक्ति कहा है । उस दशामें (व्यापकदशामे) आनन्दसे अनुभवकी मात्रा बहुत कम होजाती है। अत एव श्रुति " नेति नेति " "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" कह कर उसके स्वरूप को अनिर्देश्य निर्देश करती है । इस प्रेमरसकी कुछ प्रारम्भिक दशाका वर्णन किसी अभियुक्तने कियाहै

अाविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते ।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम् ॥

जिस प्रेमने पैदा होनेके समय एकदम थोडेभी कारणकी अपेक्षा न रक्खी । और जो हजारों अपराध होनेपर नष्ट किंवा कम नहीं होता । तथा चापलूसी करनेसे कभी बढताभी नहीं । और जो अमृतके साह्मने खम्भठकोर कर 'तु मेरे साह्मने कौन वस्तु है' यह कहने को सदा तैयार रहता है। उस सारे संसारके दुःखोंके नाश करने वाले और अतिमहत् प्रेमको मैं आज अपनी वाणी से कैसे कहूं, और कहकर उसकी आबरू कैसे बिगाडूं ।

यह प्रेम जब अपने समानमें होताहै तब स्नेह किंवा शृंगार कहा जाताहै । अपने से छोटेमें वात्सल्य, और अपने से बड़ेमें उत्पन्न होकर यह भक्ति नामसे प्रसिद्ध होता है । ऐश्वर्य, (हुकूमत, प्रताप) पराक्रम, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य. इन षड्गुणों से महत्त्व (बडप्पन) होता है । इनमें से एक एक गुण जहां आ जाते हैं वह बड़ा कहा जाता है । और जो कहीं ये सारे गुण एकमें ही स्वभावतः रहते हों तो फिर उसके माहात्म्य—बडप्पनकी तो कथा ही क्या है । भगवान् में, ये छः गुण स्वभावतः रहते हैं । अत एव भगवान् सबसे बडा

है । उस पुरुषोत्तम भगवान्में उसके माहात्म्यको समझकर जो प्रेम किया जाताहै उसे भक्ति कहते हैं । नारदपंचरात्रमें यही बात इस तरहसे कही है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

आश्रयके बडप्पन का ज्ञान जिसमें पूर्वमें हो, और जो सुदृढ और सबसे अधिक हो ऐसा स्नेह ही भक्ति कही जाती है । जीवकी मुक्ति इसीसे होती है । और तरहसे नहीं । विशुद्ध अवस्थामे यह भक्तिरस एक है । किन्तु जब इसमें सत्त्वरजस्तम त्रिगुण का मेल होजाताहै तब यह भक्ति तीन, नो, इकयासी; और अनन्तविध होजाती है ।

यहां तक हमने विशुद्ध निर्गुण रसरूपा भक्तिका निरूपण किया । यह फलरूपा भक्ति है । अत एव इसका ही रूपान्तर और इसका साधनभी एक नवधा भक्ति किंवा तनुजा, वित्तजा, सेवा नामक साधनभक्ति औरभी है । इस वैधी साधन भक्तिका निरूपण श्रीभागवतमें इस तरह है ।

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिःसिद्धेर्गरीयसि ।

वेद और वैदिक शास्त्रोंकी आज्ञासे और उनमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानसे जो क्रमसे प्रकट होती है उस स्नेहरूपा

भक्तिको वैधी भक्ति कहतेहैं । कभी २ किसी२ अधिकारीको जन्मसे ही यह भक्ति प्राप्ति हातीहै, जैसे प्रल्हादजीको । उस जगह पूर्वजन्मके साधनानुष्ठानसे किंवा सामान्यानुग्रहसे ही वह प्रकाशित हुई है । यह निश्चय है इस लिये उसे भी वैधी भक्ति समझना चाहिये । इस वैधी भक्तिका क्रम इस तरहसे है । एक मन वाले देव इन्द्रियोंके सब व्यवहार, स्वाभाविक होकर स-सत्त्वविग्रह श्रीभगवानमें किंवा प्राकृतगुणरहित भगवान्में ही निरन्तर होते रहें वह भक्ति कही जातीहै । और फिर का-मनारहित होकर सदाके लिये गिर्गुण भगवान्कोही अपना वि-षय बनालें तब वे ही सर्वेन्द्रिय वृत्तियां पूर्वोक्त मनके साथ एकताको प्राप्त होकर भागवती अनिमित्ता वैधीभक्ति कही जातीहै।

" द्वयाह वै प्राजापत्याः " किंवा " देवासुरा वै संयेतिरे

१--' ते ह नासिक्यप्राणमुद्गीथमुपासां चक्रिरे त ँ हासुरा पाप्मना विविधुः ' इत्यादि । ' अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ मुपासां चक्रिरे त ँ हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्त्वा विध्वंसेत । छा. उप. । एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः । इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः ' द्वया ह प्राजापत्याः ' इत्यत्र निरूपितानि । एकानि देवरूपाणि, एका-न्यसुररूपाणि । यान्यलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति तानि देवरूपाणि यानि लौकिकं कर्माणि जनयन्ति तान्यासुराणि । तेषा-

उभये प्राजापत्याः " इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार प्रत्येक प्राणी के दशों इन्द्रिय दो प्रकारके होतेहैं, दैव और आसुर । इन दैवासुर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें परस्पर प्रतिदिन युद्ध होता ही रहता है । दैववृत्तियां स्वभावतः आनुश्रविक होती हैं । और आसुरवृत्तियां केवल लौकिक होती हैं । आनुश्रविक दैवेन्द्रियवृत्तियां जब जब जिस जिस इन्द्रियान्तर्वर्ति प्राणका आश्रय लेकर उन आसुरवृत्तियोंको जीतना चाहती हैं, तब तबही वे बलिष्ठ आसुर वृत्तियां उनके उस आश्रयको पापविद्ध करदेती हैं । तब अन्तमें ये दैव वृत्तियां आसन्यप्राणका आश्रय लेती हैं । वहां भी आसुर वृत्तियां पहुँच ती तो हैं पर वह मुख्यप्राण भगवद्रूपहै अत एव मिट्टीके ढेले पत्थर पर गिरकर जैसे बिखर जाते हैं इसी तरह ये आसुर वृत्तियां इस मुख्यप्राण पर आक्रमण करनेसे स्वयं ही नष्ट होजातीहैं । और फिर ये दैवेन्द्रिय वृत्तियां वेदोक्तकर्मादिकोंके द्वारा कार्यसेभी दैव बनजाती है । भक्तिके लायक अपना स्वरूप बना लेतीहैं ।

मन्योन्यं स्पर्धा । तत्र बलिष्ठान्यासुराणि तैर्दैवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति । तानि चेदासन्योपासनादिना आसङ्गादिदोषान्निवृत्तानि देवभावं प्राप्नुवन्ति तदा कार्यतोपि दैवरूपाणि भवन्ति । तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासादिन्द्रादिदेवानां च देवरूपाण्येवेन्द्रियाणि भवन्ति । ये वा दैव्यां सम्पदि जाताः । तत्र भक्तिर्दैवैरेव भवति ना सुरैरिति देवपदेन करणानि निर्मितानि । तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणमाह---गुणालिङ्गानाम् ।

बहुजन्माभ्यासी ऋषियों के, इन्द्रादि देवोंके, किंवा अनुगृहित दैवीसम्पन्नमनुष्योंके भी इन्द्रिय दैव (आनुश्रविक) होते हैं ।

जिस तरह इन्द्रियां होती हैं वैसे ही मन भी दो प्रकारका है । मनःशब्द से यहां उस बुद्धिका ग्रहण होताहै जो मनके साथ एकता को प्राप्त होकर निश्चय का और इन्द्रियों के द्वारा कार्य कराने का काम करती है । इस मन और बुद्धिका विशेष विवेचन गहन एवं विस्तृत होने से ज्ञेय होने परभी हम इसे यहां ही छोडते हैं । इसका पूर्ण विवेचन हमारे पापपुण्य के निर्णय की पुस्तक में देखो । मनो रूपा बुद्धि दो प्रकार की है, एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका । अव्यवसायात्मिका बहुशाख और अनन्त होती है पर व्यवसायात्मिका एकही रहती है । बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनानेके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के साधन कहे हैं । उनके अनु-

---

१ रूपमात्रं गृह्णाति, पश्यतीति कृत्वा चक्षुरस्तीति ज्ञायते । एवमन्यानि तादृशानि कर्म भवन्तीत्य कांक्षायामाह—आनुश्रविककर्मणाम् । अनुश्रवो वेदः । तेन प्रोक्तानि कर्माणि ... तान्येव कर्माणि येषाम् । लोक दर्शनादिमात्रं, कार्याणि तु वैदिकान्येव तेषाम् । तेषां भक्तिमेव— वीतरागम् । तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्वे, सत्व इति तु सांख्यमतानुसारेणोक्तं, वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवच्छास्त्रम् । 'मन्निष्ठं निर्गुणं' 'हरिर्हि निर्गुणः' इत्यादिवाक्यैः ।

ष्ठानसे बुद्धि व्यवसायात्मिका होजाती है यह व्यवसायात्मिका बुद्धि जब आत्मा के सहारे अपने कर्तव्य का निश्चय कर चुकती है और इन्द्रियों द्वारा कर्म कराने की आज्ञा आत्मासे ले लेती है तब मनके साथ एकताको प्राप्त हो जाती है। मनोरूप होजाती है। यह मननात्मक रहता है। अर्थात् विजातीय प्रत्यय रहित होकर सजातीयप्रत्ययधारायुक्त रहता है। इसतरह वेदोक्त साधन नुष्ठानोंके द्वारा जिस पुरुषका मन एकभावापन्न होजाता है उस पुरुषकी वे पूर्वोक्त चक्षुरादि इन्द्रियां जब विशुद्ध सत्वविग्रह अवतीर्ण भगवान् में किंवा निर्गुण पुरुषोत्तम भगवान् में ही निरन्तर लग जाती है। उनकी वृत्तिया भगवान् की परिचर्या में ही रहती हैं तब उसे तनुजा चित्तजा सेवा, किंवा नवधाभक्ति कहते हैं। चक्षु का लौकिक कार्यों में दर्शनमात्र कार्य रह जाय पर उसकी वृत्ति (व्यवहार) तो भगवान् में ही केवल होने लगे। इस तरह दशों इन्द्रियों की वृत्तियां जब केवल निर्गुण भगवान् में लग जाती हैं तब आत्मनिष्ठ आनन्दका आवरण दूर हो जाता है और नित्य विद्यमान भक्ति (प्रेम) प्रकट होती है। यह हम पूर्व में सिद्ध करचुके हैं कि भक्ति प्रेम किंवा आनन्द पदार्थ नित्य है। वह न उत्पन्न होती है और न नष्ट। साधनों के द्वारा उसका आविर्भाव तिरोभाव ही होता रहता है। आवरण

आनेसे तिरोधान और आवरण के हट जानेसे -आविर्भाव होता है । अज्ञानी लोग आविर्भाव को ही उत्पत्ति समझ लेते हैं इस प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भाव के लिये जो पूर्वोक्त श्रवणादि नवसाधन किंवा तनुजा वित्तजा सेवा करने मे आती है उसे भी भक्ति कहते हैं, पर साधन भक्ति कहते हैं । शास्त्र में कहा भी है कि 'भक्त्या संजातया भक्त्या' 'मयि संजायते भक्तिः' । तनुजा वित्तजा सेवा और नवधा भक्ति प्रायः दोनो एक हैं ।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम ॥
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ ७ ॥

यह नवधा भक्ति है और तनुजा सेवा में भी येही साधन विचार पूर्वक किये जाते है; इस लिये दोनो एक ही पदार्थ हैं । विभवके बाहुल्य में राजोपचार से सेवा का निर्वाह करना ही 'वित्तजा' सेवा है, न कि पैसा देकर दूसरों के द्वारा तनुजा कराना ।

परमभागवत वक्ताके मुखसे भगवान्के स्वरूप जन्म लीला नाम और स्तोत्र आदिको श्रद्धासे सुनकर उन सबका परम-

एकमनस्य इति । एकमेव मनो यस्य । मनोऽपि द्विविधम् । दैवासुरभेदेन । तत्रासुरं संकल्पविकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैश्च क्षोभकमिति ; दैवन्तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव । अत एकं एकस्वभावापन्नं मनो यस्य तस्यैव भक्तिः । वृत्तिरत्र निरूढता न तु ग्रहण मात्रम् । सापि वृत्ति रौत्पत्तिकी यथा प्रह्लादस्य । अन्येषां वा भक्तानाम् ।

पुरुष भगवान्में निर्धारण करलेने को श्रवणभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवा ये भी--कीर्तन के समय किंवा अनवसर के समय श्रीभागवतसुबोधिनी गीता आदिके सत्संगसे होता है। प्रभुके नाम चरित्र आदिका अधिकारानुसार श्रद्धासे कथनको 'कीर्तनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामेभी यह कीर्तन प्रायः आठों दर्शनादिमें होते रहते हैं। भगवत्स्वरूप, उनकी लीला आदि, तथा उनके परिकरका श्रद्धासे चिन्तन करना यही 'स्मरण भक्ति' है। यहभी तनुजा सेवामें होता रहताहै। सर्वदा श्रद्धासे परिचर्या, अर्थात भगवान्के वस्त्रप्रक्षालन आदि सर्वविध सेवा करते रहना यह 'पादसेवन' भक्ति है। माहात्म्यबुद्धि रखकर शास्त्रोक्तविध्यनुसार किन्तु प्रेम और लोकरीतिसे जुदे प्रकारके उपचारो से भगवत्पूजा करने को 'अर्चन भक्ति कहते हैं। तनुजा सेवाम भी यह दोनो किये जाते हैं। मन्दिरमार्जन, वस्त्रपक्षालन जलाहरण, रसवती करण आदि पादसेवन कहा जाताहै। और पञ्चामृतस्नान अधिवासन संकल्प देवोत्थापन शङ्ख झांझ दुन्दुभिध्वान समन्त्रकस्नान आदि अर्चनभक्ति है। भगवान्के आगे अपना दैन्य प्रकाशित करते रहकर नमन प्रणाम आदि करना 'वन्दनभक्ति' कही जाती है। यह तनुजा सेवामें भी समानही है। प्रभुके सिवाय अन्य किसीका भी आश्रय न लेने को दास्य कहते हैं

तनुजा सेवामेभी अनन्याश्रय भगवत्प्रसादी चन्दनतांबूल भोज्य पदार्थोंका भगवद्दत्त बुद्धिसे ग्रहण करना ही दास्यभक्ति है। प्रभुकी सेवामें किसीकी भी प्रेरणाके विना अपनी प्रीति और श्रद्धा से प्रेरित हो कर प्रभुके हितों का अनुष्ठान करते रहने को 'सख्यभक्ति' कहतेहैं। 'कराविवशरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी। अविचिन्त्य हितं कुर्यात्तन्मित्र मित्रमुच्यते'। इत्यादि-वचनो के अनुसार ग्रीष्ममें पंखा करना, चन्दन धारण कराना, शीतकालमें गद्दर रजाई प्रभृति रूई साटन मखमलके वस्त्र धारण कराना सुहाग सोंठ वगैरह गरमवस्तुओ का भोग-धरना प्रभृति उन उन ऋतुओं के अनुसार प्रेम और लोक-रीतिके अनुसार उपचार करना सख्यभक्ति है।

अपने आपको स्त्री पुत्र धन गृहादि सहित, भगवत्सेवाके उपयोगी कर देना उपकरण बना देना बस यही आत्म निवेदन है। यह नवधा भक्ति है और यही सब तनुजा सेवा में सब नवधा भक्ति आजाती है। और यही भगवदधीन सर्वेन्द्रिय वृत्तियां हैं। किन्तु ये सब इन्द्रिय व्यवहार किंवा तनुजा सेवा अनिमित्ता होनी चाहिये। भक्ति (सेवा) में भगवान् का किंवा भगवत्प्रेम का ही प्रयोजन किंवा उद्देश्य रहना चाहिये। किन्तु देहसुख स्त्री पुत्र धनादि लौकिक प्रयोजन

एतावद्दूरे नास्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता, किन्तु पूर्व जन्मवशादेव भूता भवति। फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति, स्वत-

किंवा पापविर्हरण स्वर्ग किंवा मोक्ष आदि अलौकिक प्रयोजन भी भक्तिका उद्देश्य न रहना चाहिये । क्यों कि ' भक्तिरस्य भजनमिहामुत्र फलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनः कल्पनम् ' इत्यादि श्रुतिमें तथा ' इति पुंसार्पिता विष्णौ ' ' भक्त्या त्वनन्यया ' ' अनिमित्ता भागवती ' इत्यादि स्मृति पुराणोंमें निष्काम भक्तिकाही विधान है । ' श्रवण कीर्तन विष्णोः ' इत्यादि प्रल्हादके वचनमें ' अर्पिता ' शब्द है । अर्थात् भगवानमें अर्पण करते हुए भक्ति करनी चाहिये ऐसा कहा है । सेवा करते समय उस सेवा या नवधा भक्ति को भगवान् में ही स्थिर रखना चाहिये, वहां से उठालेना न चाहिये । भक्ति करके जो लोग भगवान् से किसी भी फलकी चाहना करते हैं वे उस भक्तिको भगवान् के पास से हटा कर अपने पास ही लेलेते हैं । सेवा कर श्रीभगवान् मे ही अर्पित रखनी चाहिये । ऐसी भक्ति अनिमित्ता कही जाती है ।

अनिमित्ता होकरभी फिर यह भागवती होनी चाहिये । अर्थात् कोई निर्विशेष निर्धर्मक किंवा अनित्याल्पगुण वस्तु, भक्ति का विषय नहीं होना चाहिये किन्तु भगवान षड़ैश्वर्य संपन्न किंवा नित्यानन्त कल्याणगुण पुरुषोत्तमही उसका वि-

---

न्ना, भगवन्निमित्ता वा । भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि यस्या अनिमित्ता सा भक्तिर्भवती त्युत्तरेण सम्बन्धः ।

षय रहना चाहिये । तब वह अनिमित्ता भागवती भक्ति कही जाती है । यह सब भगवदनुग्रहके विना किंवा एक जन्म साध्य नहीं है । अत एव लक्षणमें ' या ' यत्‌शब्दका प्रयोग किया है ।

सामान्यानुग्रहके भी इतना सब साध्य नहीं है । प्रभुका सामान्य अनुग्रह तो मनुष्य जन्म दे देता है । यही बात भगवान् ने कही है कि 'मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितम् ' सागरमें पतित नौकाके लिये अनुकूल पवनका चल जाना भी बहुत सहारा है । किन्तु, दांडका चलाना तो आवश्यक है ही । इसी तरह दैवी मनुष्य जन्मके मिलजाने परभी साधनानुष्ठान तो आवश्यक है ही । दैवी संपलब्ध जन्माके लिये तीन साधन हैं । ' ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च ' । इन तीन उपायोंमें सब उपायों का समावेश होजाता है । कर्मज्ञान और भक्तिरूप सब साधन हैं ।

शिशु जब जन्म लेता है तब महीने दो महीने तक उसके पास चेष्टा के सिवाय अपनी फलसिद्धि के लिये अन्यकोई साधन नहीं है । धीरे धीरे जैसे जैसे उन चेष्टा (कर्मों) के द्वारा आवरण हटता जाता है वैसेही वैसे उसके अन्तःस्थित ज्ञान और प्रेम का प्रादुर्भाव होता जाता है । इसी तरह जीवके पास अपने उद्धारके लिये पहला साधन ज्ञान सहित

वेदशास्त्रोक्त कर्म हैं । निष्काम किंवा भगवदर्पित कर्मों के द्वारा आवरण दूर होताहै और भगवदंश रूप अत एव नित्यसिद्ध ज्ञान और प्रेम स्नेह ।अन्तः प्रकाशित होजाताहै । ज्ञानसहित निष्काम कर्म किंवा भगवत्समर्पित करते करते देहपातभी होजाय तोभी उसकी उतनी हानि नहीं होती । भगवान् ने स्वयं आज्ञा की है कि ' स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात ' । ' नहि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ' । हे अर्जुन सत्कर्म करने वाला कभी भी नीच नहीं गिरता । सत्कर्म का थोडा भी अंश उसे बड भय से भी बचा लेता है । फिरभी उसे उत्तम जन्म, और पौर्वदैहिक बुद्धि मिल जाती है । और यदि न मरा और उसी जन्म में वह उसका कर्म पूरा पूरा पार उतर गया तो फिर ' पञ्चाग्नि विद्या ' के अनुसार यह दूसरा जन्म उसे अन्तिम मिलता है । इस फल रूप जन्म में पूर्वोक्त भक्ति पूर्वोक्त रीति के अनुसार अनिमित्ता और भागवती प्राप्त होती है । किं वा स्वतन्त्रा भक्ति प्राप्त होती है । यह स्वतन्त्रा भक्ति पुष्टिमार्गीय है इस लिये इसे हम यहां ही छोडते हैं ।

अनिमित्ता भागवती भक्ति (साधन) सायुज्य मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होती है । क्योंकि इसका फल गाढ भगवत्प्रेम है । और सायुज्य में प्रेम रूपता है किन्तु प्रेम प्राप्ति नहीं । भक्तो

को आनन्द रूप होजाना वांछनीय नहीं है अपि तु आनन्दभोग वांछनीय है । भगवत्प्रेमही फल रूपा भक्ति है । यद्यपि इस मानसी सेवा (प्रेमभक्ति) के तीन फल हैं जो आगे कहे जांयगे अतएव यहभी साधनही है तथापि ऐसे भक्तों के लिये यह प्रेमही सर्वोत्तम फल है अन्य फलों की वे चाहना नहीं करते । अत एव अन्यत्र कहा है कि—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

भगवान् अपने भक्तोंको सालोक्यादि फलोंका दान करते हैं पर वे भजन के सिवाय कुछ नहीं चाहते । इस फलरूप भक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ॥
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥१॥

पूर्व श्लोकोक्त तनुजा वित्तजा (नवधा) सेवा करने से भगवद्रसकी (प्रेमकी) अभिव्यक्ति होजाती है । इस श्लोकमें उस भगवद्रस के प्रकट होजानेके तीन प्रत्यक्ष लक्षण कह रहे हैं । 'मत्पाद सेवाभिरताः' 'मदीहाः' और येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि । ऐसे प्रेमीभक्तों के काय वाक् और मन के व्यवहार स्वभाविक रीती से भगवान् में ही रहते हैं भगवान् की सेवा करने में ही उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा लगी रहती है । उनके शारीरक व्यवहारभी

सर्वदा भगवत्सम्बंधी होते रहते हैं। और समान धर्मा वे लोग परस्पर निष्किंचन मित्रता रखते हुए भगवत्सम्बन्धी पराक्रमोंकाही सर्वदा सादर सप्रेम कथोपकथन तथा सत्कार किया करते हैं। अत एव भगवान् से प्रार्थना करना तो दूर है पर अपने हृदय में सायुज्यादि चार मुक्तियों की अभिलाषा भी कभी नहीं करते। उनको तो भगवत्स्वरूप लीला और गुणों के रस का अनुभव करते रहना यही परम उत्कृष्ट फल मालुम देता है। क्योंकि उनके हृदय में आनन्द रूप भगवान् का प्रादुर्भाव हो जाता है। उनका यही साध्यहै, साधन है और जीवितभी यही है। 'तन्मे साध्यं साधनं जीवितं च' उन्हे फिर जगत् के किंवा जगत् से बाहर के किसी पदार्थ से भी प्रीति नही रहती। हमारे गीता के ठाकुर ने आज्ञा की है कि —

'रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
'यः सर्वत्राऽनभिस्नेह स्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्॥ १॥
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

यह अनुवाद है विधि नहीं है। इस प्रकार चिरकाल भग-

सा चेद्भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं बिषयी करोति भगवद् भावं षड्गुणरूपतामापद्यते। पूर्वसत्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः सैव जन्मान्तरेभागवती भवतीति वा! पञ्चाभिविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहासिद्धिर्निरूपिता तथापि मुक्तेः सायुज्यादपि इयं भक्तिर्गरिष्ठे त्याह-

वद्रसका अन्तःस्वाद लेते लेते सर्वत्र भगवान् का बाहिःप्रा कटच होजाता है उस समय वे भक्तलोक पूर्ण फलका अनुभव करते हैं। जहां भगवान् रस्य और परतन्त्र होजाय और भक्त रसयिता तथा स्वतन्त्र होजाय वह अवस्था भक्तों की पूर्ण फलावस्था है। शास्त्र में उसे अलौकिक सामर्थ्य और परमाप्तिभी कहा है। 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरं' इत्यादि ऋक और उसके विवरण ब्राह्मण का भी यही तात्पर्य है। भक्ति (सेवा) तारतम्य से फल तारतम्य होजाता है इस लिये द्वितीय तृतीय फल और भी हैं। श्रीभागवत तृतीयस्कंध के इसी प्रकरण में 'पश्यन्ति ते मे' से लेकर 'तान्मृत्योरति पारये' पर्यन्त ३५-३६-३७-३८-३९-४० वे श्लोको में सायुज्य, व्यापि वैकुण्ठ, और सायुज्य जीवन्मुक्ति ये तीन सेवा फल कहे गये हैं। सायुज्य के दो अर्थ होते हैं, सहयोग और ऐक्य। भक्तलोगों को परमानन्द सह योग ही अभिलषित है इस लिये 'पश्यन्ति ते मे' इस श्लोक में सहयोग अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य का निरूपण किया है। 'तैर्दर्शनीयावयवैः' इस श्लोकमें द्वितीय सायुज्य परमानन्दैक्यका प्रतिपादन किया है। 'अथो विभूतिं मम' और 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इन दो श्लोको से व्यापिवैकुण्ठनिवास

सिद्धे गरीयसी......एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः। तादृशभक्तानां

रूप फलका कथन किया है । और 'इमं लोकं' और 'विसृज्य सर्वानन्यांश्च' इन दो श्लोकों से जीवन्मुक्ति फलका निरूपण किया है । यहां जिवन्मुक्ति का अर्थ है अलौकिक अक्षरात्मक देहकी प्राप्ति । यहां पर्यन्त हमने फल सहित वैधी भक्तिका स्वरूप कहा । यह भक्ति परमानन्द रूपा होनेसे भगवान् से भिन्नभी है और अभिन्नभी है ।

अब इस भक्तिका दूसरा भेद स्वभावानुगता भक्ति है । स्वभावानुगता भक्ति पुष्टि (अनुग्रह) मार्गका विषय है । इसका निरूपण हम अपने पुष्टिमार्ग के प्रवचन में कर चुके हैं इस लिये यहा अति संक्षेप से कहना उचितहै । स्वभावानुगता भक्ति और पूर्वोक्त वैधी भक्ति में विशेष भेद नहीं है । यहभी परमानन्द रूपा है । और परमानन्द प्राप्तिही इसकभी फल है केवल कारणका भेद है । कारण के भेद को उपचार से भक्ति में कहा गया है । वैधी भक्ति साधनों से प्रकाशित होती है और स्वभावानुगता भगवान् के विशेषानुग्रह से प्रकाशित होती है । भगवान् का अनुग्रह भगवद्धर्म है इस लिये नित्य है । और साधनासाध्य है यह भी विस्तार पुष्टिमार्ग निरूपण मे होचुका है ।

ज्ञानिनामिवाग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन । तत्र प्रथममाहं त्रिभिर्नै-कात्मतामित्यादिभिः । इयं हि फलरूपाभक्तिर्ज्ञातव्या ! फलरूपता-

भक्ति और प्रपत्ति के स्वरूप में भेद दिखाने के लिये प्रपत्ति का भी स्वरूपदर्शन कराना उचित है प्रत्येक शब्दरूढ और यौगिक भेद से दो तरह के होसक्ते हैं। प्रकृति प्रत्यय के तरफ ध्यान न देकर जिसकी सिद्धि और अर्थ अनादि सिद्ध मान लिये गये है वह रूढ शब्द है और प्रकृति प्रत्यय के अनुसार जिसकी अर्थ और सिद्धि दिखाई गई है वह यौगिक शब्द माना गया है। इन शब्दो के अर्थ भी दो तरह के हैं, रूढ और यौगिक। किं वा रूढि प्राप्त, योग प्राप्त।

तदैव भवति, यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा। तस्या अभिव्यक्तेर्निदर्शनं भगवत एकात्मतां फलं न स्पृहयान्ति प्रार्थना दूरे। तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावन एव भगवति भवतीत्याहमत्पादसेवेत्यादिना। तेषां फलावस्थामाह-पश्यन्ति ते म इति। ते मे रूपाणि पश्यन्ति-निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति। यथा मित्रैः सह क्रिडन्ति। ततः तेषां सायुज्यमाह-तैर्दर्शनीयेति। भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति। तेतु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति। भक्तिस्तु फलावश्यंभाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति। सालोक्यादि फलमाह अथो इत्यादि। साचेद्भक्तिर्मध्यमा-भवेत ततोऽयं भिन्नप्रक्रमः। परस्यकालादक्षाराच्च लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते। एवं भेदत्रयं निरूपित, सायज्यं वैकुण्ठः जीवन्मुक्तिश्चेति।

भाग० सुबोधिनी-३ २५ श्लो-३२ से४०।

प्रपत्ति शब्द को रूढ मानते हैं तब उसका स्वीकार अर्थ है। और जब उसे यौगिक मानते है तब प्र-प्रकर्षेण-एकदम, पत्तिः पदनं गमनं भगवान् के साथ संगत होजाना अर्थ होता है। प्रपत्ति मार्ग मे प्रपत्तिके दोनो अर्थ स्वीकृत हैं। यह प्रपत्तिमार्ग दो प्रकार का है, मार्यादिक (किसी विशेष मर्यादा से सम्बद्ध) और अनुग्रह लब्ध। यद्यपि भक्तिमार्ग की तरह प्रपत्तिमार्ग में प्रेम और प्रेम प्रकर्ष रहता है तथापि 'प्रधानाभिहार न्याय' से प्रपत्तिके ही आधिक्य रहने से यह प्रपत्ति मार्ग ही कहा जाता है भक्ति मार्ग नहीं। कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः। कलियुगमें कर्म ज्ञान और भक्तिमार्ग का निर्वाह करना अति कठिन है। इस लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने इन सबसे पृथक् शरण (प्रपत्ति) का मार्ग प्राकट्य किया है। भक्तो की दृष्टिमें भगवत्प्रेम फलहै साधन नहीं। इसलिये भी प्रपत्ति मार्ग भक्तिमार्ग नहीं कहा जासक्ता वास्तवमें प्रपत्तिको मार्ग कहना भी युक्त नहीं है।

प्रपत्ति तीन प्रकारकी है भक्तकृत भगवान्का स्वीकार, भगवत्कृत भक्तका स्वीकार, और मिश्रप्रपत्ति-स्वीकार। भक्त-कृत भगवान्का स्वीकार सर्वत्र प्रसिद्धहै।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतिभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर ! पीपृहि मूढमद्य ॥

श्रीप्रल्हादः ।

हे संसारसे पार स्थित गोविन्द ! यह जीव अपने कर्मोंसे ही संसार नदी में पडाहै । परस्पर जन्ममरण और अशनसे बडा डर रहाहै । और अपने पराये कारणके लिये परस्पर लडाई के वैर और मित्रभाव में फसा हुआ है । बडे दुःखके साथ प्रार्थना है कि आप सर्वज्ञ हो आज तो आपही इस मूर्खका रक्षण करो । और अन्यत्रभी कहा है कि—

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमः सत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥

श्रीमुचुकुन्दः ।

इस लिये हे सर्वसमर्थ ! रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुणसे पैदा हुई सब तरह की कामनाओं को सब जगह से छोडकर अब तो में निरुपाधिक प्रकृत गुण रहित अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ आनन्दानुभव मात्र आप श्रीपुरुषोत्तम के ही शरण जाता हूं ।

इत्यादि इत्यादि सार्वजनिक शरणागतियां भक्तकृत भगवगान् का स्वीकार है । किन्तु जिसमें भगवान्ने स्वधर्म त्याग पूर्वक भक्तका स्वीकार किया है वह प्रपत्ति काचित्क है ।

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोयं मे व्रत आहितः ॥

भगवान् व्रजनाथः

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥

भगवान् श्रीगोपीजनवल्लभः ।

इसलिये मेरे शरणापन्न, में जिसका स्वामी, मैंने जिसका स्वीकार किया ऐसे इसव्रजकी आज में ही अपने सामर्थ्य से रक्षा करता हूं ।

हे उद्धव वे श्रीगोपीजन मुझमें दृढमन रखती हैं मेरे लिये उन्होंने खानापीना सोना प्रभृति देह धर्मोंकाभी परित्याग करदिया है अतएव में ही उनका प्राण होरहा हूं किंवा मेरे वे प्राण होरहीं है । केवल वेही नहीं किन्तु जोकोई भी मेरा प्रेमी मेरे प्रेममें लोक औक परलोक दोनों का त्याग कर देते है उन्हे में अपने लिये ही (मै उन बिना नहीं रह सक्ता इस लिये) स्वीकार करता हूं ।

इत्यादि इत्यादि भगवत्कृतभक्तका स्वीकार है । भक्तकृत भगवान्का स्वीकार प्रपत्ति मार्यादिकी है । और भगवत्कृत भक्तका स्वीकार पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति है । भगवान्के विशेषानुग्रहको पुष्टि कहते हैं । कुछ विशेष को रखने वाले अनुग्रह

को विशेषानुग्रह कहते हैं, न कि ज्यादा अनुग्रह को ' पोषणं तदनुग्रहः ।' श्रीभा॰ २ स्कं॰ १० अ॰ । पुष्टिमार्गका विशेष विवेचन हमारे ' पुष्टिमार्ग ' नामक ग्रंथमें देखना चाहिये ।

वानरीका शिशु अपनी माताको खूब कसकर पकड़ता है। माता उसे उतना नहीं पकडती । माता अपने खाने पीने उछलने कूदने में रहती है । गिरने न गिरने की सम्हाल सब वानर शिशुको ही रखनी पडती है । यह उदाहरण मार्यादिक प्रपत्तिका है। भगवान्‌को भक्तने भक्तिसे पकड रक्खा है । भगवान् अपने स्वरूपमें है । अपनी लीलायें यथावस्थित करते चले जाते हैं । उनके स्वरूपमें कुछ परिवर्तन नहीं है। किन्तु भक्तने भगवत्स्वीकार के अनन्तरही अपने स्वरूप और चरित्रमें परिवर्तन कर दिया है । यह परिवर्तन ६ प्रकार का है।

आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासः, गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः ।
रक्षकत्वेन भक्तकृतो भगवतः स्वीकारः शरणागतिः ॥

भगवान्‌को ही अपना रक्षक रूपसे स्वीकार करना यह मार्यादिकी प्रपत्ति है शरणागति है । यद्यपि यहां आत्मनिक्षेप भी है किन्तु वह अन्यसाधनो के समान एक अङ्ग है । जैसे आनुकूल्यादि अङ्ग हैं इसी प्रकार आत्मनिक्षेपभी है । यह आत्मनिक्षेप फलरूप नहीं है । जब आत्मानिक्षेप के साथ

आनुकल्यसंकल्पआदिभी रहते हैं तब आत्मनिक्षेप उतना दृढ नहीं रहता । अस्तु,

भगवानके अनुकूलही रहना, प्रतिकूलताका सर्वदा वर्जन, रक्षाके विषयमें भगवान्काही पूर्ण विश्वास, और रक्षा करने में भगवान्काही वरण, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य (दीनता) ये छहो मिलकर प्रपत्ति कहे जाते हैं । इसमें प्रधानता भगवान् के वरणकी ही है । इस मार्यादिक प्रपत्तिका उदाहरण विभीषण हैं । विभीषणने अपने सब अन्य साधनों का परित्याग कर भगवान् श्रीरामचन्द्रका स्वीकार किया है । और वह ' परित्यक्ता मया लङ्का ' ' राघवं शरणं गतः ' आदि वचनों से स्पष्ट है । किन्तु श्रीरामचन्द्रने अपने धर्मोंका परित्याग करके विभीषणका उस प्रकार स्वीकार नहीं किया है । भगवान्के स्वरूपमें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ है भक्तके स्वरूपमें सब तरह परिवर्तन होचुका है । उसे आनुकूल्यादि सब अङ्गोका रक्षण करना पडरहा है । भगवान्के सब चारित्र सिलसिलेवार होते चले गये हैं । विभीषणकी सामर्थ्य नहीं है कि भगवान्का परिहास करै या उनका अपमान करै । उनकी बराबरी करने का साहस विभीषण को नहीं होता । और न भगवान्को ही अपने धर्म छोडकर विभीषणको स्वीकार करने की लालसाहै । विभीषणकी सेवा भगवान्ने नहींकी । विभीषणकी

आपत्तियों को अपने ऊपर नहीं झेला है । विभीषणके कर्तव्यों को अपने हाथों करके विभीषणको ही उसका यश नहीं दिलाया है । प्रत्युत विभीषणको लंका के राज्यकी लालसा दीगई और अन्तमें विभीषणने उसे ग्रहणभी कर लिया । प्रभु ने विभीषणसे रावणकी बहुतसी रहस्यबातें जानकर युद्धका सुभीता करलिया । ये प्रेम संदेहास्पद हेतु दोनो में मिल सक्ते हैं । इसलिये दोनोमें पूरापूरा आत्मनिक्षेप और प्रेम प्रकर्ष न होने से, और आनुकूल्यादि तथा प्रातिकूल्यवर्जनका दोनो मे निर्वाह होनेसे विभीषण मर्यादाप्रपत्तिका ही उदहरण है । रामराज्याभिषेक होने के बाद विभीषणको भगवान्‌ने विदा कर दिया और वह खुशी खुशी चलाभी गया । पर उसके स्वरूप या स्वभाव में परिवर्तन कुछ न देखा गया।

मध्यम, मिश्रप्रपत्ति का उदाहरण अर्जुन है । 'शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्' में आपके शरण आया हूं और आपका शिष्यभी हूं अब मुझे शिक्षा दो । यह अर्जुन कृत भगवान् का स्वीकार है । जहां अपने अपने धर्मोंका त्याग करके एक दूसरेका (परस्पर) स्वीकार हो वह मिश्रप्रपत्ति है । भगवान् व्यासजी ने कहा है कि 'पार्थास्तु देवो भगवान् मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेव देवः' । देव देव भगवान् श्रीकृष्णने कुन्ती पुत्रों का ग्रहण किया है । भगवान्‌ने अपने धर्मोंका

त्याग करके अर्जुन का ग्रहण किया है। यह पुष्टिका अंश है। और उसके अन्य साधनों का त्याग करा कर अपना दृढ स्वीकार करने का उपदेश दिया है। अर्जुन से भगवान् कह रहे हैं कि 'तू तो अभी तक धर्मों को पकडे बैठा है अत एव अभीतक तैंनें मुझे कसकर पकडाही नहीं है। यदि तू मुझे कसकर पकडना चाहे तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। इसीका नाम 'आत्मनो नितरां क्षेपः' दृढ आत्म निक्षेप है। प्र पकर्षेण पदनं गमनं भगवति, प्रपत्तिः। इतना ही नहीं गीता और भागवतमें अर्जुन और श्रीकृष्णके अनेक ऐसे वचन और चरित्र भरे पडे हैं कि जिनसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि दोनो ने स्वधर्मत्याग पुरः सर एक दूसरे का स्वीकार कर रक्खा है। 'गीतामें यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्यासन भोजनेषु'। भागवतमें 'नर्माण्युदार चरित स्मित शोभितानि हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति। संजल्पितानि नरदेव ! हृदिस्पृशानि स्मर्तुर्लुठान्ति हृदयं मम माधवस्य॥ 'वञ्चितोहं महाराज! हरिणा बन्धुरूपिणा'। इत्यादि अर्जुन के वाक्य हैं। इनसे दोनोका परस्पर गहरा प्रेम और परस्पर स्वीकार स्पष्ट प्रतीत हो रहाहै। भगवान् ने अर्जुन की सारथ्य आदि सेवाभी की है। उसकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये आपने स्वयं श्रम किया है। धर्मका परित्याग भी

कियाहै। इस लिये स्पष्ट होताहै कि भगवान्‌ने अर्जुन का स्वीकार कियाहै । पर साथमें अर्जुनने आनुकूल्यादि और प्रातिकूल्य वर्जन आदिका भी पालन किया है इससे उसने भी उनका ग्रहण किया है यह स्पष्ट होता है अतएव मिश्र प्रपत्ति है । केवल पुष्टि प्रपत्ति इन दोनो से पृथक् है । और यही भगवान् को भी प्रिय है । अनुग्रह प्रपात्ति का साधन अनुग्रह है ऐहिक किंवा आमुश्मिक साधनान्तर हेतु नहीं हैं । प्रपत्ति होने के बादभी आनुकूल्यादि पांच साधनों का नियम नहीं होता । कभी होजांयतो कुछ साध्य नहीं और न होसकै तो हानि नहीं । वहां तो प्रेम प्रकर्ष और दृढ आत्म निक्षेप रहता है । कभी कभी तो आनुकूल्यादि की विपरीतता होजाती है । प्रपन्न की इच्छाके आगे भगवान् की इच्छा नहीं चलती । भगवान् को भक्तकी अनुकूलता देखनी पडती है । भक्तकी प्रतिकूलता को बचानी पडती है । भगवान् और प्रपन्न दोनो अपने अपने धर्मोका परित्याग करके (एक दूसरे का) दृढ स्वीकार करते हैं । दोनों का परस्पर आत्मानिक्षेप रहता है । और इसी लिये ऐक्य और प्रेम प्रकर्ष रहता है । देखने में तो 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' यह उपदेश अर्जुनको किया है किन्तु वास्तव में यह पृथक् शरणमार्ग का उपदेश है अन्य शरणमार्गों से यह प्रपात्ति मार्ग ही दूसरा है ।

भगवती गीतामें १७ अध्यायों से फल सहित कर्मज्ञान और भक्तिरूप साधनों का उपदेश करके १८ वें अध्यायके अन्तमें ११ श्लोकों से पुष्टिप्रपत्ति का निरूपण है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ॥
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५७ ॥

इसके पूर्व ५५ श्लोक पर्यन्त सारे गीता शास्त्रमें ज्ञानकर्म सहित भक्ति शास्त्रका निरूपण कर दिया। इनमें ज्ञान और कर्म सार्वजनिक सिद्धान्त हैं। किन्तु भक्ति शास्त्रके अधिकारी विरल हैं इसलिये भक्तिरूप उपाय गुह्यशास्त्र है। उसका भी फल सहित निरूपण 'भक्त्या मामभिजानाति' इस श्लोक में करचुके। अब कलिकी प्रबलता देखकर भगवान् कृपाकर सबसे पृथक् एक शरण (प्रपत्ति) मार्गका उपदेश करते हैं ११ श्लोकोंमें। किन्तु अति प्रसङ्ग को बचाने के लिये उस मार्गका क्रम से निरूपण करते हैं। अधिकारानुसार क्रम है। पहला अधिकार यह है—'सर्वकर्माण्यपि सदा' मेरे पृथक् शरण मार्ग में चलने वाला पुरुष श्रुतिस्मृत्युक्त सब कार्योंका अनुष्ठान सदा करता रहे पर मेरा आश्रय रक्खे। अर्थात् उन शास्त्रोक्त कर्मोंका आसरा न रक्खे। केवल भगवान्‌का आश्रय इतना ही नहीं किन्तु 'वि अप आश्रय' लौकिक अलौकिक दोनो प्रकार के फलोंका देने वाला भगवान् ही मेरा स्वामी

है अन्य साधन नहीं, इस आश्रय में जो कोई फलाकांक्षा और आसक्ति वगेरह में विरुद्ध किंवा अनुकूल पडते हों उनकी सिद्धिमे और मेरे उद्धारमें भगवान् ही साधन हैं, सर्वकर्म नहीं इसतरह इस विश्वास में विरुद्ध पड़ते साधनोका भी परित्याग करके मेरा आश्रय रक्खे । यह वि-(विरोध) अप, (परिवर्जन,) इन दो उपसर्गो का अर्थ है । अर्थात् सर्व कर्मोका आचरण भगवादाज्ञा मान कर करता रहे पर भगवद्विरोधिफल और आश्रय रक्खे; विरोधिसाधनों का सर्वथा परित्याग करके एक भगवान्का ही आश्रय रक्खे तो वह मेरे प्रसाद (कृपा) से (कर्मो से नहीं) नित्य निर्विकार मेरे चरणारविन्दको प्राप्त होगा । यह पहला अधिकार हे ।

अधिकारकी वृद्धि होने पर अब दूसरे अधिकार के लिये आज्ञा करते हैं कि—

चेतसा सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तारिष्यसि ॥

मत्परः, जिसे श्रीकृष्णमें ही सर्व श्रेष्ठ बुद्धि होचुकि हो, और जो भगवद्भजन में तत्पर रहता हो वह चित्तसे भगवद्भजनेतर सब कर्मोका मुझपर परित्याग करदे । किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धिको अच्छी तरह पकड़ कर श्रीकृष्ण मे ही सर्वदा मन रक्खे तो भगवान्के अनुग्रहसे ही (अन्य साधनों

से नहीं) सर्व संसारकी कठिनाइयों से मुक्त हो जायगा। और उसे भगवत्प्राप्ति होगी । कर्म करते रहना और उन पर आस्था न रखना यह कार्य व्यवसायात्मिका बुद्धि का हैं। और यही सब कर्मोका मानसिक त्याग है । वास्तव में मानसिक त्याग ही मुख्य है । निराश्रय मनका रहना कठिन है इसलिये निरन्तर भगवच्चिन्तन करता रहे इसमें भगवदाश्रयका भंग भी नहीं होता ।

अब इससे विशेषाधिकार होने पर कहते हैं कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मयया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ॥
मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वसमर्थ भगवान् सबके हृदय-देशमें बैठाहै और अपनी मायासे सब जीवों को अपने अपने कर्म यन्त्रों पर चढा कर जन्म मरण के चक्कर पर घुमा रहाहै । इसलिये सब परसे भरोसा छोडकर सब तहरकी भावनायें केवल भगवान् में ही रखकर उसका ही आश्रय ले । उसके अनुग्रह से पूर्ण शान्ति और शाश्वतस्थानको तू प्राप्त होगा । यह समझ गुह्यतर है । सब गीतामे भक्तिरूप गुह्यका निरूपण है । और मर्यादा मिश्र पुष्टि प्रपत्तिका निरूपण गुह्यतर ज्ञान हैं । सो कह चुके । अब इससे भी विशेषाधिकार के लिये अज्ञा करते हैं कि—

अर्जुन ! तू मुझे बहुत प्यारा है इसलिये तेरे हित करने वाला उपाय तुझे कहूंगा सुन,

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ ६५ ॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
> अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥ ६६ ॥

किसी प्रकार के कर्म हो किंवा भगवत्सेवा ही क्यों नहो यदि वह अन्य फलोंमें मन रख कर की जाय तो वह निष्फल हो जाती है इसलिये तू मेरा ही आश्रय रखना चाहता है इसलिये मन्मना भव, केवल मुझमे ही मन रख । सब फलों का फल मेरा प्रभु है ऐसा मन रख । और लोग भले अपनी कामनाओं के वश हो कर अन्य देवों की भक्ति करे, पर तू तो केवल मेरा भक्त (प्रेमी) रह । अन्य साधनों का परित्याग करके केवल मेरा यजन (सेवा) कर । में स्वतन्त्र हूं इस दुर्भावनाको छोडकर केवल में तो प्रभुका ही दास हूं यह दीन भाव रख । अन्य साधन फलोंका परित्याग करनें में तुझे भय मालुम देता हो किंवा अविश्वास होता होतो मे तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूं कि तू मुझे ही प्राप्त होगा । तू मुझे बहुत प्याराहै में तुझसे कभी छलनहीं करूंगा । यह शुद्ध पुष्टि प्रपत्ति है अब दूसरे श्लोकमे संक्षेप से इसीका स्पष्ट निरूपण करते हैं कि—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

सब अन्यधर्मोंका परित्याग करके केवल धर्मिपात्र मेरे शरण तू जा । मे तुझे सब पापों से छुडाऊंगा, किसी बातका सोच मत कर ।

यहां एक यह विचार उपस्थित होता है कि इस तरह इन सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग कराने की आज्ञा से तो सारी गीता में कही गई धर्माचरण की आज्ञायें ही नष्ट होजाती हैं । और मनु प्रभृति धर्माचार्य तो भगवान् की आज्ञासे ही धर्माचरण का उपदेश देते हैं । उनका भी वह प्रयास सब निष्फल गया । भगवान्का भी प्रादुर्भाव धर्मरक्षार्थ है, किन्तु इस आज्ञाने सबको निरर्थक कर दिया दूसरी बात यहभी है कि एक जगह धर्मके पालन की आज्ञा और दूसरी जगह धर्मके त्याग की आज्ञा यह क्या बात हुई । यह बडी अप्रामाणिकता है । उत्तम उपदेश में यह न होना चाहिये इस के उत्तर में आचार्योंने एक पद्य कहा है—

न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतो किञ्चनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं वाऽमुक्तं तादितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम् ॥
दुःसाध्येच्छोद्यमो वा क्वचिदुपशमिता वन्यसम्मेलने वा
ब्रह्माखन्याय उक्तस्तादिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः ॥

शास्त्रोक्त धर्मोंके पालनकी आज्ञा उन उनके अधिकारोंके

अनुसारही दीगई है और तदनुसारही दी जासक्ती है। श्रद्धा से अधिकारका पता लगसकता है । 'श्रद्धामयो यं पुरुषः' जीवमात्र श्रद्धामय होताहै । भली बुरी अनन्तश्रद्धाये हैं । भलापन बुरापनभी अपने अपने अधिकारकी दृष्टिसे ही होता हैं स्वरूप से ही जो बुरा है उसके लिये कोई कार्य हिंसा और मांसभक्षण बुरा नहीं कहा जाता ।

क्यों कि 'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत' हृदय में जो सत्त्वका परिमाण रहता है तदनुसारही श्रद्धार-हती है ! रजसे अथवा तमसे जितने प्रमाणमें सत्त्वका अभि-भव रहता है या नहीं रहता उतने ही अंशमें श्रद्धा बुरी या भली कही जायगी । कोई मनुष्य श्रद्धा पूर्वक किसी कार्यको करता है इस लिये वह आच्छाही है यह कहना भूल है। मनुष्य के कर्तव्यका अच्छापन और बुरापन उसके अधिकार और श्रद्धापर निर्भर है। अधिकार श्रद्धा से ज्ञात होताहै और सत्वभी श्रद्धा से ही ज्ञात होता है । विशुद्धसत्व में भगवान् का प्रादुर्भाव है—

विशुद्धसत्वं वसुदेवसंज्ञितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।

'विशुद्धसत्वं तव धामशान्तं' इत्यादि बचनो में स्पष्ट है कि सत्वकी विशुद्धता में भगवान्का प्रादुर्भाव होता है । अब यह प्रादुर्भाव दो प्रकार से होताहै ज्ञान और प्रेम । निर्गुण

ज्ञान और निर्गुण प्रेम दोनो भगवान् हैं। सत्वकी विशुद्धिमें ही ज्ञान और भक्ति रूप भगवानका प्रादुर्भाव होताहै। किस प्रकार के द्वारा प्रकट होना यह भगवान् के ही हस्तमें है। साधनों का तो इतनाही कर्तव्य है कि वे सत्यका आवरण हटादें। रजस्तम के आवरणको हटा देना भगवद्धर्म किंवा भगवदर्पित कर्मों का कार्य है। और अनुग्रह काभी निष्काम कृष्णार्पित कर्मों से हृदयके सत्वका आवरण दूर होजाता है। इसेही शास्त्रों मे चित्त शुद्धि कहते हैं। यह रीति साधनमार्ग की है। किन्तु अनुग्रहमार्ग में दूसरी ही रीति है। अनुग्रह मार्ग में भगवान् जिस प्रकार को उद्देश्य कर जीव पर अनुग्रह करते हैं, उसके हृदय में वही प्रकारक ज्ञान किंवा भक्ति का प्रादुर्भाव होता है ज्ञानी भी भगवदनुगृहीत है और भक्त भी भगवदनुगृहीत है। अनुग्रहका विशेष विवेचन मेरे पुष्टि-मार्ग नामकग्रंथ में देखना चाहिये।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
उभयोरेक एवार्थो भगवच्छब्द लक्षणः॥

जब सत्व विशुद्ध होचुका और ज्ञान किंवा प्रेमके रूपमें भगवान्का प्रादुर्भाव होचुका तब फिर कर्म करने की अपेक्षा रहती ही नहीं। अकर्मभी दो प्रकारका है। अनागन्तुक कर्म राहित्य और आगन्तुक कर्म सहित कर्म राहित्य। ऋषभवाम देव प्रभृति ज्ञानी और नारद सनत्कुमारादिभक्त अनागन्तुक

कर्म राहित्य के दृष्टान्त हैं। वसिष्ठ शुकादिक आगन्तुक कर्म सहित कर्म राहित्य के दृष्टान्त हैं। विशषानुग्रहमें भी श्रीगोपीजन प्रभृति अनागन्तुक कर्म राहित्य के दृष्टान्त हैं।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः!
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

अकर्मता कई प्रकार से होती है यह पूर्वमें कह चुके हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

इत्यादि शास्त्रके अनुसार जिनका हृदय सत्व पूर्वजन्म में ही निरावरण अत एव शुद्ध होचुका है उन ज्ञानी किंवा भक्तोका अधिकार कर्मका नहीं रहता। कर्मका क्रम उनके हृदय पर नहीं जमता। और जिनपर भगवान् का विशषानुग्रह होता है उनका मन भी कर्ममार्ग किंवा धर्ममार्गपर आरूढ नहीं होता। जडभरत प्रल्हाद आदि जन्मसे ही अकर्म के अधिकारी थे। और इसी आशयको लेकर शास्त्र और अभियुक्तों के वचन हैं।

'तस्य कार्यं न विद्यते' 'नैव तस्य कृतेनार्थो ना कृते नेह कश्चन' 'हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबद्ध्यते'।

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो
हे देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्।
यत्र क्वापि निषद्य यादव कुलोत्तंसस्य कंसद्विषः
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे॥

यह वर्णन भी ब्राह्मी स्थितिका है। ब्राह्मी स्थितिके महा-पुरुषो का मन विधि निषेधसे परमें पहुंच जाता है। वे धर्मके अधिकारसे पृथक् हैं। भगवदासक्त पुरुषको धर्मों से कुछ प्रयोजन नहीं। धर्ममार्ग उनके लिये नहीं है। उनके लिये वेदमें कुछ नहीं है। वेदमें जा कुछ है वह जब उन्हे सर्वत्र मिलरहा है तब उन्हे वेद और वैदिक मार्ग से क्या प्रयोजन है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

दो चार कोस में चारो तरफ जब मीठे जलका बरसाती पानी भरा हुआ होता है तब फिर ऐसा कौन है जो डोर लोटा लेकर कूपका अन्वेषण करैगा। यही भक्त और निर्गुण ज्ञानी का हाल है। उन्हे सर्वत्र सर्वोत्तम फल मिलरहा है अब उन्हे लौकिक और वैदिक फल किंवा साधनों से क्या प्रयोजन है।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥

किन्तु इस अधिकार को आड लेकर कितने ही मिथ्या-चारी कहने लगतें हैं कि हमतो भगवद्भक्त हैं हमें वेदसे और वैदिक वर्णाश्रम धर्मों से क्या प्रयोजन है। किन्तु यह उनका निर्मूल ढोंग है। ढोंगकी पोल सत्य संसार में विशेष नहीं टिकती। अतएव कहा है कि—

'वार्ता भवन्त्युत नवाऽत्रतु दाम्भिकानाम्' श्रीभाग० प्रभुने भी आज्ञा की है । मिथ्याचारः स उच्यते ॥

ऐसोंके लिये ही विहारी महाकविने कहा है कि

जपमाला छापा तिलक सरै न एको काम ।
मन काचे नाचै वृथा सांचे रांचे राम ॥

जो सत्य हरिभक्त होते हैं वे किसी को क्रममार्ग से च्युत नहीं करते । उनको अपने अनाभिमत मार्गपर चलते हुए संसारीओं को अथवा वैदिक वर्णाश्रम धर्मियों को या किसी को भी उनके मार्गपर से हटानेकी कोशिश नहीं होती । प्रत्युत अनन्यभक्त तो प्राणीमात्र को भगवान् देखते हैं 'यत्किंचभूतं प्रणमेदनन्यः' । उनको राग द्वेष नहीं होता । वे इसके लिये लेख लिखने नहीं बैठते । वे तो परमशान्त होते हैं । भगवान् में आत्मनिक्षेप करके वे कृतकृत्य रहते है ।

कितने ही अधिकार विशेषके मनुष्य कहने लगेंगे कि इस तरह धर्ममार्गका त्याग करनें वाला अवश्य नरकमें जाना चाहिये । किन्तु इसका मर्म उनसे नहीं पूछा जासक्ता । इस के विषयमें तो उसकी माता किंवा प्रिय प्रियसे पूछा जाय कि तेरा पुत्र नरकमें जाताहै बोल अब क्या करें । मे समझताहूं कि प्रियता ऐसी वस्तु है कि वह विधिनिषेधकी परवाह नहीं करती । प्रिय मनुष्य अपने प्रियके बचावका कोई न कोई

उपाय ढूढ निकालत्ताहै । यह पुष्टि है । यह मार्गही पृथक् है । इसी तरह साधनमार्ग में भी साधनो पर श्रद्धा नहीं रहती । एक प्रभुके सिवाय किसी साधनमें उसका मन नहीं लगता । वह उद्यत होकर साधनों का त्याग नहीं करता किन्तु स्वभावतः उसका मन साधनोंके रहस्यको समझकर अकर्म होजाता है । ज्वराभिभूत की रुचि अपने आप अन्न पर से हट जाती है ।

पुष्टिविशेष की भी यही हालत है । वहां भी कई प्रकारों से मन अकर्म रहता है पुष्टिमार्गीय हो किंवा मर्यादामार्गीय । ऐसे जीव आकिंचन कहे जाते हैं । उनका सिवाय श्रीकृष्णके किसी से सम्बन्ध नहीं रहता । अकिंचनोका ही प्रपत्ति में अधिकार है और यही दिखाने के लिये प्रभुने अर्जुनसे साधनों का परित्याग कराया है । भगवान् सर्वज्ञ है सर्व समर्थ है सबके पिता हैं प्रिय हैं ।

सर्वत्र तस्य सर्व हि सर्वसामर्थ्यमेव च । पो०
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः गी०

ऐसी दशामें अपने अकिंचन जीवोंका उद्धार उसका कर्तव्यहै । ' तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि० और अपने इसी सामर्थ्य को स्पष्ट करने के लिये दूसरे अर्ध मे कहा है कि ' में तुझे सब अपराधों से छुडा दूंगा तू सोच

मत कर '। भगवान्‌ने प्रत्यक्ष में अर्जुन को मुख्य उद्देश्य रखकर सब प्रकार के अधिकारियों को ही गीता का उपदेश किया है। इसलिये 'सर्वधर्मान्' का विचार करते समय अर्जुन के अधिकारका भी विचार करना पड़ता है। अर्जुन का अधिकार मध्य (पुष्टिमर्यादा) प्रपत्तिका है अतएव वह पुष्टिका अधिकारी भी है, अतएव उसे धर्मत्याग का उपदेश दिया है। और इसी लिये मार्गभेद होनेसे धर्मत्याग का दोष यहां नहीं आसक्ता। आकिंचनाधिकार दिखाने के लिये ही यह धर्मत्याग है, न कि सर्वसामान्यकी दृष्टिसे।

भगवान् ने अर्जुनको पुष्टिमर्यादामें ग्रहण किया है। इसलिये इसमें दोनो प्रकारके अधिकारहैं। ऐहिक और पारलौकिक साधन परस्पर विरुद्ध रहते हैं अतएव उनका बराबर अनुष्ठान हो नहीं सक्ता और भगवान्‌तो सर्वसमर्थ हैं इस तरहकी मनमें भावना होनेसे अन्यधर्मों पर वैराग्य हो जाय तो उनका त्यागकरके भगवान्‌काही शरण ग्रहण करे। इसमें सन्यासकी तरह अन्यधर्मोंके त्यागकरने का दोष नहीं आता। इस अर्थमें संभावित दोषों के भयसे निवृत्त करने के लिये 'अहं त्वा' इत्यादि उत्तरार्द्ध कहाहै। और इस अर्थमें शरणागतिसे अतिरिक्त धर्मोंका त्याग कहाहै। इसलिये धर्मका नाश नहीं होता।

यहां यह प्रश्नभी होसक्ताहै कि अर्जुन ने ऐहिक और पारलौकिक धर्मों का त्याग कहां कियाहै फिर निरर्थक ऐसा उपदेश देना ठीक नहीं होता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि ' पुष्टिप्रपत्तिमें अकिंचनोंकाही अधिकारहै। वह अकिंचनता सर्वधर्मत्याग किये विना बन नहीं सक्ती, इसीलिये सर्वधर्मान् परित्यज्य कहाहै। जो अकिंचन हो वह शरण जाय यदि अर्जुनभी अकिंचन होना चाहै तो सर्वत्याग करे। अतः उपदेश सार्थक है।

यह ठीकहै किन्तु भगवद्भक्तकी भगवान् के सिवाय अन्यत्र प्रवृत्तिही नहीं होती अत एव भगवद्भक्तके लिये अन्यप्रवृत्तिकानिषेध निरर्थक है। इसके उत्तरमें एक दूसरा पक्ष प्रदर्शन करते हैं कि ' कार्पण्यं चाङ्गम् ' प्रपत्तिमे दीनताही अङ्ग है। जब कुछभी साधन नहीं रहता तब दीनता आती है। और वहभी जब अपने हाथसे निःसाधनता हो तब पूरी दीनता आती है। इसलिये अर्जुन को साङ्ग प्रपत्ति कराने के लिये साधनत्यागका उपदेश दियाहै। ' सर्वधर्मान् '। अथवा कृपण वहहै जो ' योऽनालोचितयाचकः ' अपने और प्रभुके स्वरूप का विचार न करके केवल कुछ मांग बैठे। इसन्यायसे यदिभक्तकोभी तुच्छातितुच्छ अपना स्वरूप और परात्पर भगवान् का स्वरूप मालुम हो जाय तो संभवहै प्रपत्ति-

ही न हो सके, इसलिये भगवान् ने आज्ञाकी कि, हे अर्जुन तू अपने और मेरे सब धर्मोंका विचार न करके मेरे शरण जा। यहां पापशब्दसे प्रपत्ति प्रतिबंधक लेना। उन्हे मैं दूरकर दूंगा।

फिरभी एक प्रश्न रहताहै कि 'कामी स्वतां पश्यति' कामी अपने मतलबकी बात देखता है इस न्यायसे मृत्युसे दु-खी पुरुष को भगवन्माहात्म्यज्ञान शरणगमनका प्रतिबधक नहीं होसक्ता प्रत्युत वह प्रपत्तिका साधकही होजायगा। इस लिय 'सर्वान् धर्मान् परित्यज्य' इतना भाग यहां उपयुक्त नहीं है तो इसका उत्तर दूसरी तरहसे देतेहैं—तदितर भजनापेक्षणं व्यपोढम्। भगवान्से अन्य, देवादिका आश्रय और उनसे किसी फलकी अपेक्षा रखना, यह दोनो प्रपत्तिमें बाधकहैं इसलिये उनदोनो का निषेध कियाहै 'सर्वधर्मान्। सर्वे च धर्माश्च। सब लौकिकालौकिक पुरुष और उनका भजनकरना दोनो का अच्छी तरहत्याग कर के मेरे शरण जा।

यहतो ठीकहै किन्तु 'अहंत्वा सर्वपापेभ्यः' यह उत्तरार्द्ध क्यों कहा। इससे यह सन्देह है कि क्या पापदूरकरने के लिये ही शरणागति की जा रहीहै। यदि ऐसाहै तो पापनाश-के तो और भी अनेक उपायहैं। प्रायश्चित्तादिसे भी पाप-दूर होसक्ता है। इसके उत्तरमें कहते हैंकि 'दुःसाध्येच्छो-

धर्मौ क्वचित् उपशमितौ '। ' सर्वधर्मान् परित्यज्य ' इस वाक्यसे भगवान् ने भक्तकी दुःस्साध्य इच्छा और उद्यमको निवृत्त कियाहै । भगवद्गृहीत पुरुष से यदि कोई प्रारब्धवश अपराध हो जाय तो वह प्रायश्चित्तादि अन्यउपायों से दूर नहीं होसक्ता, उसे केवल भगवान् ही दूर कर सक्तेहैं । इसतरह ऐसी इच्छा और उद्यम दुःसाध्य इच्छोद्यम कहे जाते हैं उनका त्याग करेने के लिये कहा गयाहै*। और इसी लिये कहा है कि ' अहंत्वा सर्व ' मे तुझ सबपापो से छुडाऊंगा । उसका तू विचारमतकर । दुःसाध्य इच्छा और उद्यम करने से अन्याश्रय करना पड़ताहै और वह अन्याश्रय प्रपत्तिमें बाधक है ।

ठीकहै अन्याश्रयको बचाने के लिये अपराधनिवृत्त्यर्थभी अन्यउपाय न करके केवल भगवान् काही शरण ग्रहण करना चाहिये । परन्तु ' लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ' इस सिद्धान्त के अनुसार लोकमर्यादाका रक्षण करने के लियेतो धर्माचरण कुछ करना ही चाहिये इस आशंकाको दूर करनेके लिहे कहते हैं कि—

' अन्यसंमेलने ब्रह्मास्त्रन्यायउक्तः ' यह ब्रह्मास्त्रन्याय श्रीरामायणके सुन्दरकाण्डमें प्रसिद्धहै । श्रीहनुमान् ने मेघनादके ब्रह्मास्त्रका स्वीकार कर लिया, मूर्छित होगये, बंधगये । पर

राक्षसों को सन्तोष न हुआ । उन्होने फिरभी रस्से वगरहसे बांधना प्रारंभ किया तब ब्रह्मास्त्रने हनुमान्जी को छोडदिया। इसीं तरह यदि प्रभुका स्वीकार (प्रपत्ति) करने पर भी अन्यधर्मोंका भी आचरण करते रहें तो ब्रह्मास्त्रन्याय होजाताहै। अर्थात् ऐसेभक्तका भगवत्प्रपत्ति परित्याग कर देती है। यह बात समझाने के लिये ही प्रभुने ' सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज ' यह आज्ञा की है। अत एव मार्गान्तर होने से आज्ञासिद्धधर्मोंका विरोध नहीं होता। यह पक्ष उच्च अधिकारियों के लिये है इसलिये ही सबके अन्तमें कहाहै।

जिस दिन से श्रीकृष्णकी दृढ प्रपत्ति ग्रहणकी उसीदिनसे यह जीव कृतकृत्य होचुका। उस दिन से ' तेषा महं समुद्धर्ता ' ' अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि ' ' ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ' इत्यादि प्रतिज्ञाओं के अनुसार जीवका उद्धार करना भगवान् का ही कर्तव्य रह जाता है। इसमें जीवका कर्तव्य ही कुछ नहीं हैं। और न जीवको अविश्वास ही कर्तव्य है। क्योंकि भगवान् सत्य संकल्प हैं इस लिये ' ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ ' ब्रह्मास्त्र चातक का विचार रख कर प्रपन्नके लिये अनन्यता और विश्वास का परित्याग करना सर्वथा अनुचित है। ' अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः '।

अब यहां एक यह प्रश्न होता है कि यदि प्रपत्ति मात्र से जीवका उद्धार हो चुकता है और फिर उसका कोई कर्तव्य ही नहीं रहता तो फिर भगवत्सेवा, भगवन्नामजप स्तोत्रपाठ आदि ये सब क्यों करने चाहियें। और भवदाज्ञासिद्ध वर्ण धर्म का पालन भी व्यर्थ है।

ठीक है ये सब नहीं करने चाहियें और प्रपत्तिमार्ग में ये सब उस दृष्टिसे किये भी नहीं जाते। यह ठीक है कि प्रपत्ति समनन्तरही उसका उद्धारहोचुका। वह कृत कृत्य होचुका। अब उसका अपने उद्धारके लिये कोई कर्तव्य नहीं रहा। तो अब यह प्रश्न रहता है कि फिर उसे करना क्या चाहिये? प्रपत्तिके समनन्तरही मनुष्य निश्चेष्ट होजाय किंवा मर जाय यहतो उसके हाथ मे है नहीं। क्यों कि ' प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति '। किसी तरह जीवनकालतो बितानाही पडैगा। कालक्षेपतो करनाही होगा। बस कालक्षेपके लिये किंवा आनुमानिक आसुरावेशके भयसे भगवत्परिचर्या भगवन्नामावृत्ति प्रपत्ति करते रहना सुन्दर उपाय है। और लौकिकासक्तिको बचाने के लिये अपेक्षित आज्ञासिद्ध वर्णधर्मका भी पालन करतें रहै तो हानि नहीं। और ये सब अनसरते किये जाते हैं। इस तरह प्रपन्नका भगवत्स्वीकार और आत्मनिक्षेप पूर्ण होजाताहै। क्यों कि वह आज्ञापालन परिचर्या प्रभृतिको अनास्था से

अनसरते करते रहने परभी नितरां भगवत्संगम से पृथक् नहीं होता । येबातेंभी हमने असमर्थ जीवकी दृष्टिसे कहीं हैं ।

वास्तवमें तो पूर्ण प्रपन्नका उदाहरण श्रीगोपसीमन्तिनं हैं । यहतो हम अपने अन्यग्रन्थमें कहही चुके हैं कि 'श्रीगोपीजनोंके चारयूथ मुख्य हैं । उन सबमें नित्यसिद्धा गोपीजन मुख्य एवं भगवद्रूपा हैं । यहीं इस मुख्य प्रपत्तिका दृष्टान्त हैं । स्वामी और स्वामिनियां दोनो एकहीं (रस) पदार्थ हैं तब परस्पर स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेप का (ऐसी भावनाका) सन्देह करना तो व्यर्थ ही है । प्राकट्य होने के पहले और प्रत्यापत्ति में तो दोनो एक ही हैं । पर भूतल पर प्रकट होते ही श्रीगोपीजनोंने प्रभुको अपना आत्मनिक्षेप कर दिया, और प्रभुने उसी समय स्वीकार भी कर लिया यह 'आत्मानं भूषयां चक्रुः' 'यद्यङ्गनादर्शनयिकुमारलीलौ' इत्यादि प्रकरणों मे सूचित है ।

स्पष्ट आत्मनिक्षेप के पूर्वभी श्रीगोपीजनों ने आज्ञा की है कि 'संत्यज्य सर्व विषयांस्तव पादमूलं प्राप्ताः ।' धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के मनको अपने साथ विशेष कर के सीं लेते हैं । इस लिये मोक्ष (आत्मज्ञान) पर्यन्त के सब विषयसामान्य हैं । अत एव श्रीगोपीजन आज्ञा करती हैं कि हे पुरुषोत्तम । हम इन सब विषयों का वासना

सहित (सर्वधर्मान्परित्यज्य) परित्याग करके आपके चरण-तलमें आई हैं। यहां भी पूर्णस्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेप है ही।

अच्छा, जब भगवान् ने दार्ढ्यपरीक्षार्थ स्त्री धर्मका उपदश किया तबभी उसका उत्तर स्वामिनी देतीं है कि

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग !
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

धर्मावलंबी धर्मोपदेशकोंने स्त्रियों के लिये पतिपुत्र सास-ससुर प्रभृति की सेवा करनाही धर्म कहाहै। और आपभी ऐसा ही उपदेश देरहेहो, किन्तु यहसब व्यर्थ प्रयास है। क्यों कि-न तो हमारी शास्त्रसे पहंचानहै और न धर्मसे, किन्तु यह अवस्य जानरहीं हैं कि आप धर्मसामान्य के पंडित हो नकि धर्मविशेषके, किंवा धर्मीके। हमारा धर्म क्याहै यह आपने जानाही नहीं, अथवा जान करभी छियागयेहो। अस्तु प्रपन्नको स्वामी के कर्तव्यकी विशेष छानवीन करना उचितनहीं है। हमतो इतनाही समझना ठीक मानतीं हैं कि आप ही सब प्राणी मात्रके अति-प्रियहो रक्षक हो, और सबके आधारहो, इसलिये सर्वोपदेशों के स्थानभूत अतिदुर्लभ और हमारेलिये परम सुलभ आपको छोडकर, अब और कहो कहां पृथक् पृथक् भाव करती फिरें।

हमतो अब आपमें ही सर्वभावसे आत्मनिक्षेपकरती हैं । आप की ही सेवाको सर्वसेवा जानतीं हैं । यहां अन्याश्रय और अविश्वासका सर्वथा परित्यागहै । श्रीगोपीजनों का भगवान् (धर्मी) के सिवाय अन्याकिसी धर्मका सबंध नहींथा यह बात मुक्तिस्कंधमें भगवान् ने ही कहीहै ।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसो सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥

सर्वसाधन रहित अनेक भक्तोंका निरूपण करते हुए उन्हीं में श्रीगोपीजनोंकी भी परिगणनाकी है । किन्तु उन सबसे श्रीगोपीजनो का स्थान बहुत ऊँचाहै । प्रपत्तिकी दृष्टिसे सत्सङ्गभी साधनहै धर्मपरिग्रहहै । ' सत्सङ्गेन हि दैतेयाः' (११-१२-३) इत्यादि श्लोको मे निर्दिष्ट प्रपन्नोमे सत्सङ्गका परिग्रह विद्यमानथा किन्तु श्रीगोपीजनोमें भगवान् से अन्य सत्संगका लेशभी नहींथा । उनको तो भगवत्संगसेही भगवत्प्रपत्ति हुई है । अत एव श्रीगोपीजनही पूर्ण प्रपत्तिका पूर्णदृष्टान्तहैं ।

जिस प्रकार श्रीगोपीजनोंने सर्वधर्मत्यागपुरःसर भगवान् का स्वीकार ओर आत्मनिक्षेप किया उसी प्रकारसे भगवान् ने भी स्वधर्मत्याग पूर्वक श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया था । भगवान् की यह प्रारम्भकीप्रतिज्ञा है कि ।—

तस्यान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोयं मे व्रत आहितः ॥

और मध्यमेंभी आपने आज्ञाकी है कि ' मया परोक्षं भजता तिरोहितम् ' । और अन्यत्रभी कहाहै कि ' तामन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः । सबसे विशेष तो यहहै कि भगवान् का मुख्यधर्म आत्मारामता है, किन्तु भगवान्ने उसकाभी परित्याग करदिया और श्रीगोपीजनोका स्वीकार किया ' आत्मारामोप्यरीरमत् ' । यह भगवत्कृत भक्तस्वीकार-आत्मनिक्षेपहै ।

भगवान् को आत्मनिवेदन करके स्वामिनीवर्ग सर्वदाके लिये कृतकृत्य होचुकाथा अत एव समयका अतिवहन करनेके लिये भगवद्गुणगानादि करतीं रहतींथीं यहबात श्रीशुकब्रह्मने इसतरह कही है—

> गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुत चेतसः ।
> कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥

यहां तक हमने यह प्रपत्तिका संक्षेपसे निरूपण कियाहै । भक्तिमें अनुग्रहहै और प्रेमप्रकर्षहै । तथा प्रपत्तिमेंभी अनुग्रह और प्रेमप्रकर्षहै । दोनोंमें भगवान्ही फलहै । इस दृष्टिसे दोनो एक, हैं किन्तु केवल साधनाचरण का दोनोंमें भेदहै । भक्तिमें साधनविशेषरूप धर्मविशेषका भी स्वीकारहै पर प्रपत्तिमें केवल धर्मी (भगवान्) काही स्वीकारहै, साधनानुष्ठानका नहीं । भक्तिमें आनुकूल्यका संकल्प और प्रातिकूल्य

कावर्जनहै किन्तु प्रपत्तिमें इनका नियम नहींहै । कहांदोनोंहै कहीं एकहै, कहीं दोनो ही नहीं । उपालंभलीला, और माना दिलीलाओ में और भ्रमर गीतादिके समय प्रातिकूल्यहीं आ भासित होताहै । यद्यपि प्रपत्ति और भक्तिही दोनोंही के विषयमें बहुत वक्तव्य रहगयाहै तथापि लेखके बढ जानेके भयसे आजयहीं तक कहकर इस विषयको पूर्ण करताहूं ।

हरिः ॐ शुभम् ।

